राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING
ISBN 978-93-5007-824-2

आज़ादी की लड़ाई का सपना

(आज़ाद हिन्दुस्तान के बारे में)

बिपन चन्द्र

स्वाधीनता के पहले दिन जवाहरलाल नेहरू का संदेश

हमें अब और कड़ा परिश्रम करना है। हममें से अब कोई भी तब तक चैन से नहीं बैठ सकता जब तक हम अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर लें और जनता का वह भविष्य न बन जाए, जिसकी वह हकदार है। हम एक महान देश के नागरिक हैं, हमें एक निर्भीक प्रगति के पथ पर प्रतिष्ठित होने के योग्य बनना है। हम चाहे किसी भी धर्म को मानते हों, हम अब एक ही महान देश की संतान हैं, हम सभी के अधिकार, प्राधिकार और कर्त्तव्य बराबर हैं। हमें सांप्रदायिकता अथवा संकीर्ण मानसिकता को बढ़ावा नहीं देना है, क्योंकि कोई भी देश जिसकी जनता विचारों अथवा कृत्यों से संकीर्ण हो, महान नहीं बन सकता।

आज़ादी की लड़ाई का सपना
आज़ाद हिन्दुस्तान के बारे में

(राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में 14 अगस्त 1997 को दिये गए व्याख्यान के मूल पाठ का हिन्दी अनुवाद)

बिपन चन्द्र
प्रोफ़ेसर इमेरिटस
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

हिन्दी अनुवाद
आदित्य नारायण सिंह

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
फरवरी 1998 फाल्गुन 1919

पुनर्मुद्रण
नवंबर 2016 कार्तिक 1938
सितंबर 2018 अश्विन 1940

PD 5T RPS

₹ 15.00

80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा पुष्पक प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, 203204 डी.एस.आई.डी.सी. शेड्स, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फ़ेज़-I, नयी दिल्ली 110 020 द्वारा मुद्रित।

ISBN 978-93-5007-824-2

एन. सी. ई. आर. टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 100 016 **फ़ोन : 011-26562708**

108ए 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बेंगलुरु 560 085 **फ़ोन : 080-26725740**

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 **फ़ोन : 079-27541446**

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट- धनकल बस स्टॉप पिनहटी
कोलकाता 700 114 **फ़ोन : 033-25530454**

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगाँव
गुवाहाटी 781021 **फ़ोन : 0361-2676869**

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग	:	*एम. सिराज अनवर*
मुख्य संपादक	:	*श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार प्रबंधक	:	*गौतम गांगुली*
मुख्य उत्पादन अधिकारी	:	*अरुण चितकारा*
उत्पादन सहायक	:	*मुकेश गौड़*

आज़ादी की लड़ाई का सपना आज़ाद हिन्दुस्तान के बारे में

अध्यक्ष महोदय, सहकर्मियों और मित्रों, आज़ादी के लिए संघर्ष करने और आज़ादी पाने के अलावा हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई की सबसे महत्त्वपूर्ण देन वह सपना था, जिसने आज़ादी की लड़ाई को प्रेरित किया तथा जिसे उसने उन लोगों को विरासत में दिया, जिन्हें 1947 के बाद नए भारत का निर्माण करना था। यह कहना ज़रूरी नहीं है कि कोई भी सपना, कोई भी विरासत हमेशा कायम नहीं रहती। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि उस सपने ने आज़ादी की लड़ाई को और हमारे गणतंत्र के संस्थापकों को प्रेरणा दी। साथ ही उसने उन सब लोगों को प्रेरणा दी, जो 15 अगस्त 1947 के बाद नए भारत के निर्माण में जुट गए। लेकिन वक्त बीतने के साथ-साथ अगर किसी सपने को पुख्ता नहीं किया जाए, उसमें नई जान न फूँकी जाए और साथ ही उसे लोगों के जीवन के लिए अधिक प्रासंगिक बनाने के लिए कुछ नया न जोड़ा जाए, तो वह सपना धीरे-धीरे धूमिल होता चला जाता है। लेकिन एक विरासत के तौर पर वह सपना आज भी बहुत अहमियत से भरा है, क्योंकि जिन समाजों को वर्तमान और भविष्य में प्रेरणा देने के लिए अपने पूर्वज नहीं होते, जिनके पास अतीत में संजोया हुआ सपना नहीं होता, वे समाज अनाथों के समान होते हैं। वे अपने नए निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में बहुत आगे तक नहीं जा पाते। इसलिए आज़ादी की लड़ाई के दौरान देखा गया सपना न केवल उस लड़ाई का प्रेरणा स्रोत था और उसने न केवल लोगों को 1947 के बाद के नए हिन्दुस्तान के लिए संघर्ष करने को उत्साहित किया, बल्कि वह एक ऐसा सपना है जिसे हमें अपने हृदय में संजोए रखना चाहिए। हम लोगों को ऐसा और किसी कारण से नहीं तो कम से कम

इस बात का स्मरण करते रहने के लिए करना चाहिए कि हममें अतीत में इस तरह का सपना संजोने की क्षमता थी। मेरी राय में आज के उथल-पुथल से भरे ज़माने में जब चारों ओर नाउम्मीद का आलम छाया हुआ है, उस सपने की ख़ास अहमियत है। कुछ दिन पहले इस देश के एक प्रमुख अख़बार ने एक स्तंभ आरंभ किया, जिसमें आज़ाद हिन्दुस्तान में ज़िंदगी के अलग-अलग पहलुओं पर चिंतनशील लोगों के विचार प्रकाशित किए गए। इसमें दुखद बात यह रही कि उस स्तंभ के लिए लिखने वाले लगभग सभी लोगों ने पिछले पचास सालों में हिन्दुस्तान में जो कुछ हुआ उसकी बड़ी निराशाजनक तस्वीर खींची। मेरा ख्याल है कि अगर उन्होंने आज़ादी की लड़ाई के दौरान लोगों को प्रेरणा देने वाले उस सपने की ओर ध्यान दिया होता और अगर उन्होंने यह देखने की कोशिश की होती कि उस सपने को कहाँ तक असलियत का जामा पहनाया जा सका है, तो उनकी राय इस तरह निराशा से भरी नहीं होती। फिर वे देख पाते कि उस सपने के बहुत से हिस्सों को धीरे-धीरे साकार कर दिया गया है या वे साकार किए जाने के रास्ते पर हैं। सभी देश उन्नति और अवनति दोनों के दौर से गुज़रते हैं। किसी दौर में उनका सपना चमक उठता है तो किसी दौर में वे निराशा से ग्रस्त हो जाते हैं। लेकिन अगर वह सपना सच्चा है तो निराशा ज़्यादा समय तक नहीं टिक पाती और अंत में वह सपना अपना रंग अवश्य दिखाता है। इस दृष्टि से मैं बहुत बड़ा आशावादी हूँ। इसका कुछ कारण यह भी है कि जब वह सपना संजोया जा रहा था, जब वह बूढ़ों और जवानों सबको प्रेरणा दे रहा था, उस दौर में मुझे भी उसमें शिरकत करने की खुशकिस्मती हासिल हुई थी।

अब मैं बहुत संक्षेप में इस सपने के कुछ पहलुओं पर विचार करूँगा। ऐसा मैं केवल यही समझने के लिए नहीं करूँगा कि क्यों हम एक बड़े जन-आंदोलन, विश्व-इतिहास के शायद सबसे बड़े जन-आंदोलन का निर्माण

कर पाए, बल्कि यह समझने के लिए भी कि 15 अगस्त 1947 के बाद हम इस सपने को साकार करने के लिए ऐसी जद्दोजहद क्यों कर पाए हैं, जिसमें हमें कुछ कामयाबियाँ हासिल हुई हैं, मगर कुछ नाकामयाबियाँ भी। इन कामयाबियों और नाकामयाबियों का विश्लेषण भावी इतिहासकार करेंगे। लेकिन इतिहास के अध्येता के नाते मैं केवल एक बात यह कह सकता हूँ कि अगर हम वर्तमान को उस नज़रिए से न देखें जिससे उसे पत्रकार देखते हैं, राजनीति-वैज्ञानिक देखते हैं, बल्कि अगर हम पिछले पचास सालों को और बेशक उससे भी पहले के सौ सालों के दौर को देखें, कहने का मतलब यह कि अगर हम पिछले पचास सालों को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो हम समझ पाएँगे कि हम किस तरह उस सपने को किसी हद तक सच बनाने की दिशा में आगे बढ़े हैं और तब हममें से बहुतों को मौजूदा अंधकार अस्थायी लगेगा, जैसा कि मुझे पूर्णत: अस्थायी लगता है।

बिल्कुल शुरू में ही मैं एक बात कहना चाहूँगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमें अपने अतीत से विरासत में जो आर्थिक संरचना प्राप्त हुई, जो राजनीतिक संरचना मिली, वह हमारे सदियों के इतिहास और ख़ास तौर पर उपनिवेशवाद के दो सौ सालों के इतिहास की देन थी लेकिन जो सपना हमें विरासत में मिला वह हमारे सदियों के इतिहास का सपना नहीं था और उपनिवेशवाद का तो हर्गिज़ नहीं था। वह सपना हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई की देन था।

इसलिए यह देखकर बहुत दुख होता है कि आज़ादी की लड़ाई का इतिहास हमारी स्मृति से और खास तौर से नई पीढ़ी की स्मृति से ओझल होता गया है, हालाँकि राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) ने हमारी जनता को उस इतिहास से परिचित कराने के लिए सराहनीय प्रयत्न किए हैं। इस विस्मृति का कारण कुछ तो यह है कि आज़ादी की लड़ाई को कभी भी लोगों की चेतना का हिस्सा नहीं बनाया गया,

उसे उनके जीवन के लिए प्रासंगिक नहीं बनाया गया। हमें यह एहसास नहीं हुआ कि यह सपना इस देश के लोग जो होना चाहते हैं और वे जो हासिल करना चाहते हैं, उसका एक अहम हिस्सा है।

उपनिवेशवाद का विश्लेषण

इस सिलसिले में मैं पहली बात यह कहना चाहूँगा कि यह सपना एक बहुत ही अहम पहलू की बुनियाद पर गढ़ा गया था, जिसकी वजह से 1947 के पहले यह 75 सालों से ज़्यादा समय तक कायम रहा। यह सपना उपनिवेशवाद के आलोचनात्मक विश्लेषण पर आधारित था। अगर हम समाज और राज्य व्यवस्था को बदलना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें यह समझना होगा कि हम किस चीज़ को बदलना चाहते हैं। मेरे विचार में हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई की यह बहुत बड़ी देन थी कि हमने इस बात को समझा कि उपनिवेशवाद क्या है और इसी समझ के कारण हम एक बहुत ही सकारात्मक सपना गढ़ सके। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन उपनिवेशवाद की उस समझ पर आधारित था जिसका विकास उसने उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में किया था। जब उपनिवेशवाद की इस समझ का विकास किया गया, उस समय वह समझ अकेले भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विशेषता थी और किसी और चिंतन से उसका कोई रिश्ता नहीं था। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जे.ए. हॉब्सन ने साम्राज्यवाद पर अपनी कृति की रचना उन्नीसवीं सदी के अंत में की थी। लेनिन, हिल्फरडुंग और बुख़ारिन ने अपनी-अपनी कृतियाँ बीसवीं सदी के दूसरे दशक में लिखी थीं। लेकिन तब भी उन्होंने जो कुछ उपनिवेशों में हो रहा था उसका नहीं, बल्कि जो कुछ साम्राज्यवादी देशों मे हो रहा था उसका विश्लेषण किया और सिर्फ़ यह दर्शाया कि साम्राज्यवादी देश बाहरी दुनिया में क्यों अपना विस्तार कर रहे हैं। मेरी राय है कि उपनिवेशवाद की अपनी समझ के कारण हिन्दुस्तान की आज़ादी की जड़ें समाज की बहुत ही

वैज्ञानिक समझ में समाई हुई थी और इसलिए वह जो सपना गढ़ सकी वह केवल एक कल्पनालोक की चीज़ नहीं थी, कुछ लोगों के दिमाग से उपजा ऐसा कोरा आदर्श नहीं था, जिस पर अमल न किया जा सके। उपनिवेशवाद के आलोचनात्मक विश्लेषण की बुनियाद पर गढ़े जाने के कारण इस सपने की जड़ें असलियत की मिट्टी में समाई हुई थीं और इसलिए वह सपना बहुत कुछ साकार किए जाने योग्य था।

इतिहास का निर्माण आम लोग करते हैं

मेरे ख़्याल में, इस सपने का दूसरा अहम पहलू यह एहसास था कि जिस तरह आज़ादी की लड़ाई सिर्फ़ बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा नहीं, केवल मध्य वर्गों द्वारा नहीं, मात्र उन लोगों द्वारा नहीं जिन्हें हम अभिजन कहते हैं बल्कि एक ऐसे आंदोलन के ज़रिए चलाई जानी है जिसमें आम लोग शिरकत करेंगे और जो आम लोगों की लड़ाई होगी, उसी तरह भारतीय समाज का पुनर्निर्माण भी इन्हीं लोगों की कोशिशों से, इन्हीं लोगों की मेहनत से होगा। इससे इस धारणा का भी जन्म हुआ कि इतिहास में अहमियत आम लोगों की जद्दो-जहद की होती है और अपने इतिहास का निर्माण आम लोग स्वयं करते हैं। इतिहास लेखन की अनेक प्रवृत्तियाँ हैं। इस सिलसिले में हमें नीचे से रचे जाने वाले इतिहास की भी बात सुनने को मिलती है। आपको यह जानकर हैरत होगी कि जब 1934 में पहले-पहल भारतीय इतिहासकारों का सम्मेलन हुआ, यानी जब वे पहली इतिहास कांग्रेस में इकट्ठे हुए तो उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष का एक संदेश मिला, जिसमें कहा गया था आप सिर्फ़ राजाओं और राजनीतिक नेताओं के इतिहास का अध्ययन न करें, आप आम लोगों और जनसाधारण के इतिहास का अध्ययन कीजिए क्योंकि सच पूछिए तो समाज का विकास वही लोग करते हैं, वही इतिहास बनाते हैं, वही लोग समाज के सही या गलत विकास के लिए ज़िम्मेदार होते हैं। कांग्रेस के अध्यक्ष ने यह

बात किन्हीं ऊँचे सिद्धांतों के आधार पर नहीं कही थी बल्कि उन्होंने यह बात साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ हिन्दुस्तान की लड़ाई की अपनी समझ के आधार पर कही थी। आपको यह जानकर ताज्जुब होगा कि कांग्रेस के जिस अध्यक्ष ने, जिस सदर ने, यह बात कही, जिसने यह कहा कि इतिहास में अहमियत आम लोगों की होती है, वह एक ऐसा शख्स था जिसके नाम को भ्रमवश कई तरह से रूढ़िवादिता, दकियानूसी, पुराणपंथिता के साथ जोड़ दिया जाता है। वे महापुरुष थे बाबू राजेंद्र प्रसाद। दिलचस्प बात है कि उन्नीसवीं सदी में जब यह आंदोलन मध्य वर्गों तक महदूद था और उनमें भी बुद्धिजीवी वर्ग तक सीमित था, तब भी यह समझ अपनी जगह क़ायम थी कि जब आम लोग मंच पर आते हैं तभी इतिहास सही राह पर आगे बढ़ता है। दिलचस्प बात है कि इस सदी के शुरू में वयस्क मताधिकार की माँग लोकमान्य तिलक ने सामने रखी थी और बेशक यह बताने की जरूरत नहीं है कि साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ चलने वाली लड़ाई से आम लोगों को जोड़ने का काम महात्मा गांधी ने किया। लेकिन सवाल सिर्फ़ आम लोगों का राजनीतिक समर्थन पाने का नहीं था। सवाल इस बात के सही एहसास का भी था कि जनसाधारण की भूमिका क्या है? इसलिए इस आंदोलन और भारत के लिए जो सपना गढ़ा जाने वाला था वह इस धारणा पर आधारित था कि अतीत की तरह एक बार फिर इस देश के इतिहास का निर्माण आम लोग करेंगे।

इस सिलसिले में मैं आपको एक दो प्रसंग बताना चाहता हूँ। 1915 में जब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में अपना काम करके स्वदेश लौटे तो मद्रास के नागरिकों ने वहाँ उनका अभिनंदन किया। जैसा कि आपको मालूम है, उन दिनों अभिनंदन-पत्र में कहा गया था आप महापुरुष हैं क्योंकि आपने दक्षिण अफ्रीका में सामान्य लोगों को नायक और नायिकाओं में बदल दिया। जवाब में गांधीजी ने कहा— आप तो बात को बिल्कुल उलट कर कह रहे हैं। एक

आम हिन्दुस्तानी को किसी तमिल स्त्री या केरल के किसी मज़दूर को मैंने नायिका या नायक नहीं बनाया, बल्कि उन्होंने मुझे मिट्टी के लौंदे की तरह अपने हाथ में लिया और उस लायक बना दिया जिस लायक आज आप मुझे देख रहे हैं। ग़रज़ यह कि नेता जनता को नायक-नायिका नहीं बनाते, बल्कि जनता नेताओं को मनचाहे आकार में ढालती है, उन्हें नेता बनाती है। इसी तरह 1947 का एक प्रसंग लें। हम बँटवारे की, गांधीजी द्वारा उसकी मंजूरी की और भी जाने क्या-क्या बातें करते हैं। जब कुछ नौजवानों ने गांधीजी से जाकर कहा कि आपने तो कहा कि बँटवारा मेरी लाश पर होगा। हम संघर्ष के लिए तैयार हैं। आप बँटवारे के ख़िलाफ़ और मुल्क की आज़ादी के लिए लड़ाई की रहनुमाई क्यों नहीं करते? हम आपके साथ होंगे। बूढ़े-थके नेताओं को छोड़िए। जवाब में गांधीजी ने कहा— मैं जो करता हूँ उसके बारे में और नेताओं की भूमिका के बारे में आपको ग़लतफ़हमी है। आंदोलन नेता नहीं खड़े करते। आंदोलन खड़े करते हैं आम लोग। आम लोग खुद ही आगे बढ़ते हैं और कोई नहीं जानता कि उन्हें कौन-सी चीज़ गति देती है। नेता वह नहीं है जो आंदोलन खड़े करता है या आम लोगों को आंदोलित करता है, नेता वह है जो जानता है कि कब आम लोगों का मानस आंदोलित हो रहा है, जो जानता है कि कब आम लोग आगे बढ़ने के लिए आतुर हो रहे हैं। ऐसे ही मौके पर वह आगे आता है और सही नेतृत्व देता है और जन आंदोलन शुरू हो जाता है। गांधीजी ने आगे कहा कि मुझे नहीं दिखाई देता कि आज आम लोग आंदोलित हैं। इसलिए आज मेरे लिए या किसी के लिए भी बँटवारे के ख़िलाफ़ जन आंदोलन खड़ा करना मुमकिन नहीं है।

इसलिए मैं कहना चाहूँगा कि आम लोग अपने भाग्य के निर्माता है और भारत का निर्माण बुनियादी तौर पर आम लोगों की जद्दो-जहद से होगा। यह धारणा हमारी आज़ादी की लड़ाई के सिलसिले में गढ़े गए सपने का सबसे

अहम हिस्सा थी। मेरा विचार है कि इसी कारण से हमने बिल्कुल शुरू में ही अपने संविधान में वयस्क मताधिकार दाखिल करने का वह काम हाथ में लिया, जिसे कुछ लोग लगभग नामुमकिन मानते थे। लोगों ने चेतावनी दी कि अगर अनपढ़, अज्ञानी लोगों को वोट देने का हक मिल गया तो वे समझ नहीं पाएँगे कि उस हक का इस्तेमाल कैसे किया जाए? किसी भी राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से, किसी भी तर्क से, इस राय को नामंजूर करना मुश्किल होता। लेकिन जिन नेताओं ने हमारे संविधान की रचना की, उन्होंने आम लोगों को कार्रवाई करते देखा था, उन्होंने उन्हें इतिहास के सबसे बड़े जन आंदोलन में हिस्सा लेते देखा था। उन नेताओं को मालूम था कि आप लोग राजनीतिक दृष्टि से सही काम कर सकते हैं और करते हैं और इसलिए उन्होंने वयस्क मताधिकार दाख़िल करने का नामुमकिन काम किया और फिर 1951–52 में चुनाव भी करवा दिए और लोगों ने भी दिखा दिया कि उनमें चुनावों में हिस्सा लेने की पूरी काबलियत है। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भारत में आबादी का जो प्रतिशत चुनावों में वोट देता है, वह संयुक्त राज्य और कई दूसरे देशों से अधिक है। मैं मानता हूँ कि यह 1947 के बाद के हिन्दुस्तान की एक ख़ामी है कि हमारे विकास और सामाजिक सुधार के कार्यों में आम लोगों को शरीक नहीं किया गया। बदकिस्मती से आम लोगों के किरदार के बारे में आज़ादी की लड़ाई के सबक को, आज़ादी की लड़ाई के सपने को, पहले तो शासक दल और सरकार और फिर विपक्षी दल भी ज़्यादा-से-ज़्यादा नज़र अंदाज़ करते रहे हैं। नतीजतन हमें आज यह दृश्य, यह मंज़र देखने को मिल रहा है कि लोग स्त्रियों को सत्ता तो देना चाहते हैं, लेकिन खुद उन्हें लामबंद करके नहीं, बल्कि संसद में बहस करके, स्त्रियों को इस माँग के पक्ष में खड़ा किए बिना वे अपना मकसद हासिल करना चाहते हैं।

नागरिक स्वतंत्रताओं पर आधारित लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था

मेरे विचार में हमारी आज़ादी की लड़ाई के सपने में एक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था, जो नागरिक स्वतंत्रताओं पर आधारित होगी, का समावेश था। इस बात को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है कि यह हमारी आज़ादी की लड़ाई के सपने की एक अहम ख़ासियत थी। राजनीतिक लोकतंत्र, मतपेटियों के ज़रिए शासन करने की धारणा और सबसे बढ़कर नागरिक स्वतंत्रताओं की धारणा जिसमें हमें बोलने की आज़ादी हो, लिखने की आज़ादी हो, अपने विचारों का प्रचार-प्रसार करने की आज़ादी हो और सत्ताधारियों के खिलाफ़, मौजूदा सरकार के ख़िलाफ़, कुंडली मारकर बैठी राजनीतिक और सामाजिक ताकतों के ख़िलाफ़ संगठित होने की आज़ादी हो। ये सब पहले भारत की राजनीतिक संस्कृति का हिस्सा नहीं थीं। हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति में बहुत सारी सकारात्मक विशेषताएँ हैं। लेकिन नागरिक स्वतंत्रताओं और राजनीतिक लोकतंत्र की धारणा इस संस्कृति का हिस्सा नहीं थी। दरअसल अठारहवीं सदी तक तो वह किसी भी संस्कृति का हिस्सा नहीं थी।

यह धारणा औपनिवेशिक संस्कृति, औपनिवेशिक सोच का भी हिस्सा नहीं थी हालाँकि अकसर बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि वह उसका हिस्सा थी। यह सच है कि फ्रांसीसी क्रांति और उससे पहले इंग्लैंड की क्रांति के प्रभाव की वजह से अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर अपनी हुकूमत की शुरुआत में अख़बारों की आज़ादी, बोलने की आज़ादी वग़ैरह के कुछ तत्त्व यहाँ दाख़िल किए। लेकिन ज्यों-त्यों उपनिवेशवाद अपनी जड़ें जमाता गया, इन आज़ादियों को लगाम देने की ज़्यादा से ज़्यादा कोशिशें की गईं। नतीजा यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक प्रेस की स्वतंत्रता और बोलने की आज़ादी पर अंकुश लगाने वाले तरह-तरह के काले कानून बना दिए गए। 1947 तक

नागरिक स्वतंत्रताओं पर अधिकाधिक प्रतिबंध लगाए गए, हालाँकि उन्हें बिल्कुल ख़त्म नहीं किया गया। इसी तरह उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में उपनिवेशवाद के साथ जुड़ी यह धारणा कि उसका एक मक़सद हिन्दुस्तानियों को स्वशासन और लोकतंत्र के लिए प्रशिक्षित करना है उस सदी के सातवें और आठवें दशकों तक बिल्कुल लुप्त हो चुकी थी, फ़ना हो चुकी थी। अब उसकी जगह दूसरी तरह की धारणाओं ने ले ली थी। अब यह कहा जाने लगा था कि हिन्दुस्तान के लोगों को दरअसल कल्याणकारी निरंकुश तंत्र की जरूरत है। भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, भारतीय इतिहास, भारतीय जलवायु, भारतीय भूगोल, यहाँ के जाति-भेद, ये तमाम चीज़ें लोकतंत्र की भावना के ख़िलाफ़ हैं और इसलिए भारत में लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था कायम नहीं की जा सकती। जब कभी कुछ सुधार दाखिल किए गए तो उनका आधार भी यह विचार था कि शासकों को मध्य वर्गों को खुश करना है, क्योंकि वे सक्रिय हो रहे थे। लेकिन अंग्रेजों का कहना था कि बुनियादी बात यह है कि सत्ता हमारे हाथों में रहनी चाहिए, क्योंकि हम गरीबों के रक्षक हैं।

लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रताओं का सवाल उठाने का काम भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने किया। उसने इन चीजों को अपनाया और न सिर्फ़ अपने संगठन में उन पर अमल किया बल्कि आम लोगों के बीच उनका प्रचार भी किया। प्रमुख दलों को संगठित करने का श्रेय भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को ही है। इन दलों ने इस आंदोलन की रहनुमाई की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संगठन लोकतांत्रिक तरीकों से किया गया और यह संस्था एक संसद की तरह काम करती थी। यही कारण है कि अमरीकी शब्द 'कांग्रेस' को इस संस्था के नाम में इस्तेमाल किया गया। अपने 1947 तक के इतिहास के दौर में इस संस्था ने अपने सारे बड़े फ़ैसले खुली बहस, खुली असहमति और खुले वोटों के ज़रिए किए। मसलन, असहयोग आंदोलन आरंभ करने के सवाल पर कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गरमागरम बहस हुई और अंत में 884

के मुकाबले 1886 प्रतिनिधियों के बहुमत से असहयोग का प्रस्ताव पास कर दिया गया। फिर 1929 का प्रसिद्ध लाहौर अधिवेशन हुआ। 1929 में कुछ क्रांतिकारियों ने वाइसराय की ट्रेन को बम से उड़ाने की कोशिश की। वाइसराय तो बच गया लेकिन ट्रेन का एक हिस्सा नष्ट हो गया। गांधीजी को लगा कि यह हिंसा की कारवाई है और **पूर्ण स्वराज** का लाहौर प्रस्ताव पास करने से पहले इसकी निंदा करना ज़रूरी है। कांग्रेस अधिवेशन में आकर गांधीजी ने क्रांतिकारियों को कार्रवाई की निंदा करने की हिमायत करते हुए दलील दी। जब प्रस्ताव पर मत लिया गया तो वह 794 के मुकाबले 942 के मामूली बहुमत से पास हुआ। कांग्रेस में लोकतंत्र की एक अहम मिसाल 1942 का प्रस्ताव था। गांधीजी द्वारा पेश किए गए **भारत छोड़ो** प्रस्ताव का अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के कम्युनिस्ट सदस्यों ने विरोध किया। जब गांधीजी बहस का जवाब देने के लिए खड़े हुए तो उन्होंने सबसे पहले जो बात कही वह यह थी— मैं इस प्रस्ताव की मुख़ालफ़त करने के लिए कम्युनिस्ट सदस्यों की तारीफ़ करता हूँ, क्योंकि हमारा स्वतंत्रता आंदोलन भारत के लोगों को यह सिखाने की कोशिश करता रहा है कि हमें अपने विश्वास पर दृढ़ता से टिके रहने का साहस होना चाहिए और हमें बहुमत के समाने घुटने नहीं टेक देने चाहिए, क्योंकि हमें बहुमत को अपनी बात का कायल करने, अपने रास्ते पर लाने का हक है। उन्होंने आगे कहा, इसलिए मैं इस प्रस्ताव का विरोध करने के लिए कम्युनिस्ट सदस्यों को बधाई देता हूँ। उसके बाद अपनी तक़रीर के अगले हिस्से में उन्होंने **करो या मरो** वाला प्रसिद्ध वक्तव्य दिया। ग़रज़ यह कि लोकतंत्र की कल्पना को देश की मिट्टी की चीज़ बनाने का काम हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई ने किया।

बहुत से लोगों को यह जानकर शायद ताज्जुब हो कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने जो अभियान शुरू किए उनमें से ज़्यादातर बोलने की आज़ादी और प्रेस की आज़ादी के मसले को लेकर शुरू किए गए। 1883 में सबसे पहले जेल

जाने वाले लोग— लोकमान्य तिलक, आगरकर और सुरेंद्रनाथ बनर्जी, प्रेस की आज़ादी के सवाल को लेकर जेल गए। पहला बड़ा राजनीतिक मुक़दमा, यानी तिलक का मुक़दमा, प्रेस की आज़ादी के मसले से ही जुड़ा हुआ था। नाटू बंधुओं को प्रेस की आज़ादी के सवाल पर ही देश निकाला दिया गया। जब तिलक पर दुबारा मुक़दमा चलाया गया और उन्हें छह साल की कैद की सज़ा देकर 1908 में देश निकाला दे दिया गया तो वह भी प्रेस की आज़ादी के सवाल पर किया गया। असहयोग आंदोलन छेड़ने का बुनियादी कारण अली भाइयों के हिन्दुस्तानियों से पुलिस और सेना में काम न करने को कहने के हक़ के सवाल से जुड़ा हुआ था। 1922 में गांधीजी के लेखों को लेकर उन पर मुक़दमा चलाया गया और उन्हें सज़ा दी गई। 1941 में व्यक्तिगत सत्याग्रह बोलने की आज़ादी के मसले को लेकर छेड़ा गया। इस तरह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने नागरिक स्वतंत्रताओं और लोकतंत्र को भारत की जनता के सपने का एक बुनियादी हिस्सा बना दिया।

इस सिलसिले में गांधीजी के कई कथन उद्धृत किए जा सकते हैं। सब जानते हैं कि जवाहरलाल नेहरू नागरिक स्वतंत्रताओं से प्रतिबद्ध थे। लोकमान्य तिलक आधुनिक लोकतंत्र के सबसे बड़े हिमायतियों में से थे। यहाँ तक कि उन पर शोध करने वाले विद्वानों ने उनकी तुलना टी.एच. ग्रीन से की है। लोकमान्य तिलक ने कहा था कि नागरिक स्वतंत्रताओं के बिना किसी भी राष्ट्र का विकास नहीं किया जा सकता। भारत में राष्ट्र का निर्माण केवल नागरिक स्वतंत्रताओं के आधार पर ही किया जा सकता है। गांधीजी ने इससे भी आगे जाकर बार-बार कहा— हमें प्रेस की आज़ादी और बोलने की स्वतंत्रता होनी ही चाहिए। बोलने और प्रेस की स्वतंत्रता का मतलब यह है कि हमें ऐसी बातें लिखने की भी आज़ादी हो जो सत्ताधारियों के ख़िलाफ़ हों। जो क्रांतिकारी हिंसा की हिमायत करते हैं उन्हें भी, अगर वे सचमुच हिंसा का

आचरण नहीं करते तो, यह कहने का अधिकार है कि हिंसा भारत की आज़ादी हासिल करने का सही रास्ता है। फिर एक ऐतिहासिक वक्तव्य में उन्होंने कहा कि नागरिक स्वतंत्रताएँ और खासतौर से बोलने की आज़ादी जीवनामृत है, ज़िंदगी का पानी है और पानी को कभी किसी प्रकार से पतला करने की बात मैंने नहीं सुनी है, इसलिए नागरिक स्वतंत्रताएँ सर्वथा निरपेक्ष जीवन-मूल्य हैं। उनमें किसी भी हालत में कोई मिलावट, कोई कमी नहीं की जा सकती।

लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्राओं से इस प्रतिबद्धता का अंतिम पहलू यह है कि यह सिर्फ़ बड़े-बड़े नेताओं का सपना नहीं था। इस सपने को हज़ारों कार्यकर्ताओं ने भारत के मौहल्लों और गाँवों में प्रचारित किया। दु:ख की बात है कि इस संबंध में ज़्यादा दस्तावेज हमें हासिल नहीं हैं, लेकिन खुशकिस्मती से हम में से कुछ लोग अच्छी-ख़ासी तादाद में ऐसे राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं से भेंट-वार्ता करने में कामयाब हुए जो सीधे ज़मीन से जुड़े हुए थे, जो सीधे आम लोगों के बीच काम कर रहे थे। हमने उनसे पूछा कि कौन-सा संदेश लेकर वे देहाती इलाकों में लोगों के पास जाते थे और उन्होंने जिन तीन-चार प्रमुख विषयों का ज़िक्र किया उनमें से एक विषय था नागरिक स्वतंत्रता, लोकतंत्र, बोलने की आज़ादी, जो चाहे वह लिखने की आज़ादी तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता। दूसरे शब्दों में, यह न केवल बुद्धिजीवी वर्ग का सपना था, यह ऐसा सपना था जिसे पूर्णरूप से सारी जनता के जीवन का हिस्सा बना दिया गया, क्योंकि कार्यकर्ता लोग उनके बीच यह संदेश लेकर गए। इसलिए यह कोई संयोग की बात नहीं है कि तीसरी दुनिया में अकेला हिन्दुस्तान ही ऐसा मुल्क है जहाँ आज़ादी के बाद से लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रताएँ निर्बाध रूप से हमेशा कायम रहीं। मुझे मालूम है कि आमतौर पर ऐसा माना जाता है।

हालाँकि ऐसा मानना गलत है कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने हिन्दुस्तान में लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रताओं की शुरुआत की और उसी ने यहाँ

के लोगों का इनसे परिचय कराया। अगर बात ऐसी ही होती तो मलेशिया और सिंगापुर में भी शुरू से ही लोकतंत्र होना चाहिए था, पूर्व अफ्रीका में भी आरंभ से ही जमहूरियत होनी चाहिए थी और पाकिस्तान तथा बांग्लादेश में भी लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रताएँ होनी चाहिए थीं। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच सबसे अहम फर्क यह था कि पाकिस्तान की स्थापना एक ऐसे आंदोलन के बल पर की गई, जिसका मानना था कि जमहूरियत हिन्दुस्तान के लिए मुआफिक नहीं है। वह आंदोलन अपने संगठन की दृष्टि से भी लोकतांत्रिक नहीं था। हिन्दुस्तान की नई राज्य-व्यवस्था की स्थापना और फिर उसकी रहनुमाई ऐसे नेतृत्व ने की जो हमेशा नागरिक स्वतंत्रताओं और लोकतंत्र के सपने की हिमायत करता रहा था। अगर कुछ नेताओं ने कभी, जैसा कि 1975 में, उसके ख़िलाफ़ काम करना भी चाहा तो अवाम ने अपनी ताक़त दिखा दी और आपात स्थिति को संवैधानिक मर्यादाओं से बाहर नहीं जाने दिया। उसे उन्होंने इसलिए स्वीकार किया कि वह संवैधानिक संरचना का हिस्सा थी, लेकिन जब वह उस संरचना की हदों को पार करने लगी तो लोग विद्रोह कर उठे। इसलिए मैं कहूँगा कि यह आज़ादी की लड़ाई की एक बहुत बड़ी विरासत है और उस लड़ाई के सिलसिले में संजोए गए सपने का एक प्रमुख घटक है।

नवीनतम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के द्वारा तेज़ आर्थिक विकास

हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में देखे गए सपने का दूसरा अहम पहलू यह था कि नवीनतम विज्ञान और प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके मुल्क का तेज़ आर्थिक विकास किया जाए। बिल्कुल शुरुआत से ही दादाभाई नौरोजी, रानाडे, रमेशचंद्र दत्त, गोखले और तिलक जैसे सभी राष्ट्रीय नेताओं ने इस बात की हिमायत की। नए विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आधार पर देश के तेज़

आर्थिक विकास की यह धारणा शुरू से ही भारत की आज़ादी की लड़ाई के सपने का एक हिस्सा रही थी। मेरी अपनी राय यह है कि यदि राममोहन राय जैसे स्वतंत्रता-प्रेमी ने, जिन्होंने यह कहा था कि अगर 1832 का कानून (इंग्लैंड की संसद द्वारा पारित कानून जिसने इंग्लैंड में मताधिकार को विस्तृत किया) पास नहीं हुआ तो मैं इंग्लैंड की धरती पर कदम नहीं रखूँगा, और जिन्होंने 1830 की नेपल्स क्रांति का जश्न जहाज़ के सफ़र के दौरान मनाया था, ब्रिटिश उपनिवेशवाद को गले से लगाए रखा तो वह सिर्फ़ इस ख़याल से कि एक औद्योगीकृत देश होने के नाते इंग्लैंड भारत को उद्योग टेक्नोलॉजी देगा और यह देश दुनिया का दूसरा या तीसरा औद्योगिक मुल्क बन जाएगा। जब यह दिखाई दिया कि उपनिवेशवाद भारत का औद्योगिकरण नहीं कर रहा है, बल्कि उसका वि-औद्योगिकरण कर रहा है और उसके विकास को रोक रहा है तो दादाभाई नौराजी (जन्म 1825) जैसे लोग, जो अपनी जवानी के दिनों में राममोहन राय जैसा ही सोचते थे, अपनी प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में उपनिवेशवाद के आलोचक बन गए, क्योंकि आर्थिक विकास का सपना साकार नहीं हो रहा था, बल्कि ठीक उससे उल्टा हो रहा था। यह सपना बिल्कुल शुरू में ही राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा बन गया और इसने आज़ादी की लड़ाई में हिन्दुस्तान की जनता को प्रेरणा दी। भारतीय पूँजीपतियों की बंबई योजना के बारे में सब जानते हैं। हमें जवाहरलाल नेहरु की सदारत में सुभाष चंद्र बोस द्वारा स्थापित राष्ट्रीय योजना समिति की भी जानकारी है और हम यह भी जानते हैं कि उनका सपना क्या था। लेकिन मैं चाहूँगा कि आप कराची प्रस्ताव के बारे में भी विचार करें। मैं यह भी चाहूँगा कि तिलक ने जो कहा था, उसे भी आप पढ़ें। वे रानाडे की राजनीति के आलोचक थे, लेकिन उनके अर्थशास्त्र के बारे में उन्होंने कहा कि मैं रानाडे का शिष्य हूँ। हिन्दुस्तान एक बडी औद्योगिक शक्ति बने, यह रानाडे का सपना था। कभी-कभी यह

कहा जाता है कि गांधीजी आधुनिक आर्थिक विकास के पक्ष में नहीं थे। लेकिन सच्चाई यह है कि यह सपना राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत से लेकर बिल्कुल उसके अंत तक उसका हिस्सा बना रहा और गांधीजी के अलावा कोई इससे असहमत नहीं था। मगर इस मामले में भी दिलचस्प बात यह है कि गांधीजी ने हिंदू-मुस्लिम एकता को, छुआछूत-विरोध को और खादी को कांग्रेस के धर्म के बुनियादी पहलू बनाने पर तो ज़ोर दिया, लेकिन इस बात का आग्रह कभी नहीं किया कि आर्थिक विकास के बारे में उनके विचार को भी कांग्रेस के सिद्धांत का मूलभूत अंग बनाया जाए। बल्कि बात इससे उल्टी थी। इस मामले मे धीरे-धीरे वे खुद ही बदल गए और एक हद तक, हालाँकि पूरे तौर पर नहीं, इस सपने के हामी बन गए। यहाँ मैं आपको एक बात बताना चाहूँगा। मूल अधिकारों और आर्थिक कार्यक्रम से संबंधित प्रसिद्ध कराची प्रस्ताव में नागरिक स्वतंत्रताओं और सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों और सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लगभग हरेक पहलू के बारे में लक्ष्य निर्धारित किए गए। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि भारत का आधुनिक आर्थिक विकास किया जाना चाहिए तथा रेलवे, परिवहन के साधनों, खानों वग़ैरह, सबका राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए।

हमें आधुनिक उद्योगों का, ख़ास तौर से मशीनी उद्योगों का, भारी उद्यागों का विकास करना चाहिए, यद्यपि ऐसा सार्वजनिक क्षेत्र में ही होना चाहिए। यह बहुत ताज्जुब की बात है और मेरी समझ में यह नहीं आता कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर लिखने वाले विद्वानों ने इस बात को क्यों बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर दिया है कि कराची अधिवेशन में, 1931 में, यह प्रस्ताव महात्मा गांधी ने पेश किया था। उसका मसौदा जवाहरलाल नेहरू ने तैयार किया था, जिसमें गांधीजी ने संशोधन किया था। वे चाहते तो जिन बातों का वे समर्थन नहीं करते थे उन्हें उस प्रस्ताव में से निकाल देते। उन्हें मालूम था कि खुद को गांधीवादी

कहने वाले बहुत से लोग जवाहरलाल नेहरू के इन विचारों के ख़िलाफ़ थे। लेकिन मेरा ख़याल है कि उन्होंने यह प्रस्ताव इसलिए पेश किया, क्योंकि उन्हें लगा कि वे जवाहरलाल नेहरू से या आर्थिक विकास के संबंध में आज़ादी की लड़ाई के जिस सपने को बहुमत की हिमायत हासिल थी उस सपने से इत्तेफ़ाक़ नहीं करते थे फिर भी वह था तो बहुमत का सपना ही, जिससे वे ख़ुद को अलग नहीं दिखाना चाहते थे। इस संबंध में ख़ुद गांधीजी के विचार किस तरह बदले, इसकी मैं यहाँ तफ़सील से चर्चा नहीं करना चाहता, लेकिन इतना कह देना चाहता हूँ कि उन्होंने इसे कभी भी एक बुनियादी सवाल नहीं बनाया। सच तो यह है कि जब जनवरी 1942 में उन्होंने अपने उत्तराधिकारी की घोषणा की तो चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का नाम नहीं लिया, सरदार पदेल का नाम नहीं लिया, राजेन्द्र प्रसाद का भी नाम नहीं लिया, बल्कि नाम लिया तो जवाहरलाल नेहरू का, भारतीय कृषि और उद्योग के आधुनिकीकरण के सबसे बड़े हिमायती का।

आधुनिक पद्धतियों पर तीव्र आर्थिक विकास की इस कल्पना के साथ यह धारणा भी जुड़ी हुई थी कि हमारा विकास स्वतंत्र रूप से होना चाहिए, यानी यह विकास भारत के हितों के बारे में ख़ुद भारतीयों की अपनी समझ के मुताबिक होना चाहिए। यह ऐसा विकास नहीं हो जो पराश्रित हो, जो किसी तरह की बाहरी ताकतों के निर्देशों का मोहताज हो। 1930 से योजना की कल्पना, सार्वजनिक क्षेत्र की कल्पना, भी इस सपने का हिस्सा बन गई। तो मैं कहना चाहूँगा कि आधुनिक और स्वतंत्र आर्थिक विकास की धारणा हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई में देखे गए सपने का एक बहुत अहम हिस्सा थी।

ग़रीब-समर्थक रुझान

मैं इस सपने की तीन और ख़ासियतों पर ज़ोर देना चाहूँगा। एक तो था आज़ादी की लड़ाई का ग़रीब-समर्थक रुझान। कुछ इतिहासकार इस विचार से सहमत

नहीं हैं कि दादाभाई नौरोजी के समय से ग़रीबों की दशा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य सरोकार रही। हमें मालूम है कि अंग्रेज़ी हुकूमत को दादाभाई के द्वारा की गई आलोचना का शुरुआती मुद्दा, भारत की जनता की ग़रीबी थी। जब कुछ लोगों ने कहा कि आयकर देने वालों की तादाद बढ़ रही है तो दादाभाई ने जवाब दिया कि मैं आम लोगों की ग़रीबी की बात कर रहा हूँ। जब उन्होंने नमक कर और आयकर की मुख़ालफ़त की तो यह कहा कि अंग्रेज़ों की कर-नीति ग़रीबों को नुकसान और अमीरों को फ़ायदा पहुँचाती है। अगर आप रमेशचंद्र दत्त जैसे रूढ़िवादी व्यक्ति के लेखों को पढ़ें तो आप देखेंगे कि बिलकुल शुरू से ही उनका असली सरोकार इस बात से था कि ग़रीबों पर क्या बीत रही है। ग़रज़ यह है कि आरंभ से ही राष्ट्रीय आंदोलन का रुझान ग़रीबों की हिमायत करने की ओर था। जब गांधीजी राष्ट्रीय परिदृश्य पर प्रकट हुए तो इस रुझान ने और भी ज़ोर पकड़ा। उनकी राय थी कि राष्ट्रीय जीवन में बोलबाला दरिद्रनारायण का होना चाहिए। उन्होंने मध्यवर्ग की आलोचना करते हुए कहा कि इन लोगों को अपने हितों की ही फ़िक्र रहती है, ग़रीबों की नहीं। इस बात पर ज़्यादा ज़ोर देने की ज़रूरत मुझे नहीं है। इसी तरह इस बात पर भी ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है कि इस सदी के तीसरे और चौथे दशकों मे सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट राष्ट्रीय आंदोलन के अभिन्न अंग बन गए और वे समाजवाद के संदेश को, यानी इस संदेश को लोगों तक ले गए कि समाज में सबसे ऊपर ग़रीबों के हित होने चाहिए। यहाँ मुझे इस बात का ज़िक्र कर देना चाहिए कि समाजवाद कभी भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रमुख विचारधारा नहीं बन पाया। समाजवादी और ग़ैर-समाजवादी प्रवृत्तियों के बीच ज़ोरदार कशमकश चली, जिसमें जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, जयप्रकाश नारायण और दूसरे सोशलिस्ट, पूरन चंद्र जोशी और कम्युनिस्ट, समाजवादी प्रवृत्ति के पक्ष में थे। मेरा ख़याल है, कमोबेश गांधीजी भी उन्हीं के

साथ थे। मेरी अपनी राय है कि समाजवाद के मामले में गांधीजी वामपंथियों के ज़्यादा साथ थे। उन्होंने खुल्लमखुला ऐलान किया कि मैं समाजवादी हूँ। दूसरी ओर दक्षिण पंथ था, जिसका यक़ीन था कि मुल्क का पूँजीवादी विकास होना चाहिए। इन दो प्रवृत्तियों के बीच का संघर्ष कभी भी निर्णायक दौर में नहीं पहुँच पाया। इसलिए मैं यह नहीं कहूँगा कि समाजवाद सम्पूर्ण आज़ादी की लड़ाई के सपने का एक हिस्सा था। लेकिन वह उस लड़ाई के साथ एक अंश का हिस्सा ज़रूर था।

जैसाकि मैंने पहले कहा है, समाजवादी रुझान की रहनुमाई सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और महात्मा गांधी कर रहे थे। लेकिन, जैसाकि मैं कह चुका हूँ, वह कभी प्रमुख सपना नहीं बन पाया। वह सपना एक ख़ास स्थान का दावेदार ज़रूर बना रहा। लेकिन ग़रीब समर्थक रुझान इस लड़ाई का प्रमुख सपना बना रहा। मेरे कुछ विद्यार्थियों के अनुसंधानों से पता चलता है और मेरे विचार में बिलकुल ठीक पता चलता है कि समाजवाद के सपने में तो नहीं लेकिन इस ग़रीब-समर्थक सपने में न केवल दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, रानाडे, तिलक या गांधी, बल्कि सरदार पटेल भी हिस्सेदार थे, जिन्होंने बारदोली के किसानों के आंदोलन का नेतृत्व किया था। बंबई सरकार को ज़मींदार-विरोधी और साहूकार-विरोधी कानून बनाने की प्रेरणा सरदार पटेल ने दी थी। 1936 में हिन्दुस्तान में पहले पहल स्थापित अखिल भारतीय किसान सभा के प्रथम अध्यक्ष सरदार पटेल ही थे। इस प्रकार, यह आज़ादी की लड़ाई का प्रमुख सपना था और जो इसे पसंद नही करते थे उनमें भी इसकी मुख़ालफ़त करने की हिम्मत नहीं थी। यह एक प्रकार से आज़ाद हिन्दुस्तान के सपने का एक पवित्र हिस्सा बन गया, ऐसा हिस्सा जिसके साथ कोई किसी तरह की छेड़खानी नहीं कर सकता था। दिलचस्प बात है कि आज भी हालत यह है कि जो लोग ग़रीब-विरोधी

हैं, उन्हें भी वोट पाने के लिए लोगों की ग़रीबी हटाने के लिए काम करने का दिखावा करना पड़ता है। मैं समझता हूँ कि यह उस सपने का एक बहुत अहम हिस्सा था, जिसे साकार करने की कोशिश 1947 के बाद की गई। यह अवश्य कहूँगा कि हम जो कुछ कर पाए हैं, उसका सबसे कमज़ोर हिस्सा यही है, हालाँकि 1947 के बाद के ज़्यादातर दौर में ग़रीब-समर्थक रुझान अपनी जगह पर पूरे ज़ोर से कायम रहा, लेकिन हक़ीकत में ऐसा नहीं हुआ। जहाँ तक संपत्ति के पुनर्वितरण का सवाल है, हम आज़ादी की लड़ाई के सपने को अमली जामा नहीं पहना सके।

सामाजिक बदलाव और सामाजिक इंसाफ़

हिन्दुस्तान की आज़ादी के सपने का एक और अहम हिस्सा सामाजिक बदलाव और सामाजिक इंसाफ़ का सवाल था। हम आज के पैमाने को अतीत पर लागू करके देखें तो कहना होगा कि बिल्कुल शुरू से ही राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग सामाजिक सुधार और सामाजिक इंसाफ़ के पक्ष में था। आरंभ से जब ख़ुद दलित लोग लामबंद नहीं हो पाए थे तभी से, पहले तो बुद्धिजीवी वर्ग और फिर राष्ट्रीय आंदोलन ने उनके सवाल को लेकर जद्दो-जहद शुरू कर दी। 1920-21 में जात-पात पर आधारित जोरो-ज़ुल्म के ख़ात्मे को भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का बुनियादी हिस्सा बना दिया गया। सामाजिक इंसाफ़ के सपने की प्रेरणा से ही संविधान-निर्माताओं ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए बेझिझक आरक्षण की व्यवस्था की। यह व्यवस्था निश्चित रूप से न तो अपने को दलितों के नेता बताने वाले लोगों की कार्रवाइयों का नतीजा थी और न उपनिवेशवाद के उद्देश्यों का हिस्सा थी और न ही वह किसी और कल्पना का हिस्सा थी। संविधान सभा को, जिसमें ऊँची जातियों के सदस्यों की प्रधानता थी, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए बेझिझक आरक्षण स्वीकार करने की प्रेरणा देने का श्रेय

सामाजिक इंसाफ़ के लिए भारत के राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा चलाए गए संघर्ष को जाता है। हमने देखा है कि आज संसद में स्त्रियों के लिए आरक्षण के विधेयक के मामले में क्या-कुछ हो रहा है। न केवल इस विधेयक की मुख़ालफ़त करने वाले, बल्कि इसकी हिमायत करने वाले लोग भी पाखंड कर रहे हैं। तो इस बात को मद्देनज़र रखते हुए आप देख सकते हैं कि आरक्षण को स्वीकार करना कितना क्रांतिकारी क़दम था, और यह निश्चय ही राष्ट्रीय आंदोलन के सपने की देन था। महात्मा गांधी और पूरे राष्ट्रीय आंदोलन ने भारत की जनता के मन में यह अपराध-बोध जगा दिया था कि तुमने भारतीय समाज के दलित वर्गों के साथ अतीत में अन्याय किया है और अब तुम्हें उसका प्रायश्चित करना है। इसीलिए अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए इतनी आसानी से आरक्षण किया जा सका। इसके नतीजे कितने सकारात्मक हुए हैं, यह दीगर बात है। यहाँ मुद्दा यह नहीं है, मुद्दा यह है कि यह एक क्रांतिकारी क़दम था, जैसा क़दम किसी भी दूसरे समाज ने नहीं उठाया था, और यह क़दम आज़ादी की लड़ाई में संजोए गए सपने की वजह से उठाया गया।

स्वतंत्रता के कुछ ही वर्षों बाद हिंदुओं की स्वीय विधि से संबंधित भारत में क़ानून पास हुए। मैं समझता हूँ, कोई भी रूढ़िवादी समाज इस प्रकार के कानून पास नहीं कर सकता था। 1950 वाले दशक तक भारतीय समाज कुल मिलाकर बहुत दक़ियानूसी था। आज भी वह बहुत दक़ियानूसी है। सिर्फ़ मर्द ही दक़ियानूसी नहीं हैं, औरतें भी वैसी ही हैं। और सिर्फ़ हिंदू ही नहीं मुसलमान और ईसाई भी दक़ियानूसी हैं। इसके बावजूद अगर इस प्रकार के कुछ क्रांतिकारी विधेयक पास किये जा सके तो वह सिर्फ़ इस वजह से कि औरतों की सामाजिक मुक्ति को शुरू से ही आज़ादी की लड़ाई के सपने का एक हिस्सा बना दिया गया था। उन्नीसवीं सदी में औरतों की सामाजिक मुक्ति का सवाल जिस शक्ल में सामने आया वह आज बहुत क्रांतिकारी नहीं

मालूम होगा। 1850 वाले दशक में सामाजिक मुक्ति का मतलब क्या था, यह जानना दिलचस्प होगा। उस दशक में लिखी गई एक आत्मकथा में क्या पढ़ने को मिलता है, इस पर ग़ौर कीजिए। एक पारसी नौजवान है। वह सुबह-सुबह अपने नौकर को अपनी पत्नी को जगाने भेजता है। फिर वह उसके साथ एक फ़िटन में बैठ जाता है। कोचवान फ़िटन को बंबई से 10 किलोमीटर बाहर ले जाता है। इस बीच मियाँ-बीवी आपस में कोई बात नहीं करते। वहाँ वे फ़िटन से उतरते हैं, मर्द दस क़दम आगे-आगे चलता है, औरत उसके पीछे-पीछे। उनमें कोई बातचीत नहीं होती। एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर चलना तो दूर, वे एक-दूसरे के अगल-बगल होकर भी नहीं चलते एक आगे, दूसरी पीछे। कुछ देर बाद लौटकर वे फिर फ़िटन में बैट जाते हैं और घर वापस आ जाते हैं। इसी को सामाजिक मुक्ति माना जाता था। और यह नौजवान सोचता था कि उसे पत्नी नहीं, बल्कि सहचारी मिली है, साथिन मिली है – महज़ इसलिए कि वे दोनों साथ-साथ चले हों। मतलब यह कि हम जिस समय के बारे में बात कर रहे हैं उसको ध्यान में रखना ज़रूरी है। याद रखने की बात है – जैसाकि रानाडे के बारे में – कि अहम बात यह नहीं थी कि अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद वे एक कम आयु की लड़की से शादी करने को तैयार हो गए, बल्कि अहम बात यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन का मार्गदर्शन करने में लगे रानाडे जैसा व्यस्त व्यक्ति अपनी शामें अपनी पत्नी को पढ़ाने में बिताता था और उन्होंने उन्हें इतना पढ़ाया कि उन्होंने अपने पति की मृत्यु के बाद उनकी जीवनी लिख डाली। यह थी प्रतिबद्धता। 1931 में जब गांधी-इरविन समझौते पर दस्तख़त हो गए और लोग वक़्ती तौर पर जेलों से बाहर आ गए तो मृदुला साराभाई की रहनुमाई में एक प्रतिनिधिमंडल ने गांधीजी से मिल कर पूछा— आपने समझौते पर दस्तख़त कर दिए हैं, तो अब हम क्या करें? जवाब में गांधीजी ने कहा— मैं हिन्दुस्तान की बहनों को रसोइघर से बाहर ले आया हूँ, अब इसका

ध्यान रखना आपका काम है कि वे फिर वहीं वापस न चली जाएँ। अगर आप सिर्फ़ भाषणों और लेखों को ही न पढ़ें, बल्कि शुरू से ही इस बात पर ग़ौर करें कि राष्ट्रीय आंदोलन सचमुच किस तरह काम कर रहा था तो आपको साफ़ समझ में आ जाएगा कि हिन्दुस्तानी औरतों को सार्वजनिक जीवन में लाने का सेहरा राष्ट्रीय आंदोलन के सिर बँधता है। क्या आज भी आप ऐसा सोच सकते हैं कि कोई स्त्री, चाहे वह विधवा हो, चाहे अविवाहित या विवाहिता हो, खुशी-खुशी जेल जाने को तैयार होगी? लेकिन आज़ादी की लड़ाई के दौरान ऐसा हुआ, यह एक क्रांतिकारी परिघटना का द्योतक है। जैसाकि मैंने कहा, उस समय को ध्यान में रखकर देखें तो भारत के राष्ट्रीय आंदोलन ने बिल्कुल शुरू से ही स्त्रियों की मुक्ति का बीड़ा उठाया। औरतें राजनीति में हिस्सा लेने लगीं, वे नौकरियाँ करने लगीं, वग़ैरह-वग़ैरह। एक बात और कहूँगा। इसे चाहे जिस हद तक भी अभिजनों से जुड़ी प्रवृत्ति मानी जाए, लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह उस सपने की ही प्रेरणा का नतीजा है कि हिन्दुस्तान ऐसे चंद मुल्कों में से है जहाँ आज भी यह दस्तूर चलता है कि जब पति-पत्नी दोनों सरकारी नौकरी में दाख़िल होते हैं तो यह कोशिश की जाती है कि दोनों की नियुक्ति एक ही जगह हो। यह बेशक इस विचार का हिस्सा है कि औरतों को नौकरी करनी चाहिए। अहम बात यह है कि इस सपने को हमारे संविधान में जगह दी गई। दुख की बात यह है कि इस सपने के सबसे अहम हिस्से को, यानी दलितों, स्त्रियों वग़ैरह को जगाने के मक़सद को भुला दिया गया। 1931 में गांधीजी ने यह नहीं सुझाया था कि स्त्रियों को जगाने के लिए एक क़ानून बनाया जाए। उन्होंने कहा था कि आप इस बात का ख़्याल रखें कि औरतें फिर से रसोइघरों में वापस न जाएँ। गांधीजी ने अपने सहयोगियों से कहा कि आप जनजातियों के बीच में जाएँ, आप दलितों के बीच जाकर काम करें। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि आप उन्हें राजनीतिक

दृष्टि से जगाएँ और राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए आगे लाएँ। इसकी बजाय उन्होंने कहा—नहीं, आप उन्हें शिक्षित कीजिए। उनके बीच सफ़ाई के नियमों का प्रचार कीजिए। उनमें सामाजिक चेतना लाइए, ताकि वे अपने को आप ही जगा पाएँ और अपनी हालत अपने आप सुधार सकें। यह बुनियादी मान्यता कि लोग अपनी सामाजिक मुक्ति के दूत ख़ुद बनें, अपना इतिहास स्वयं बनाएँ, आज़ाद हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे लुप्त हो गई। अब हालत यह है कि हालाँकि यह सपना आज भी हमें रास्ता दिखा रहा है (अगर आप हमारे स्कूलों के पाठ्यक्रम, विश्वविद्यालय की शिक्षा, राजनीतिक दलों के घोषण-पत्रों पर ग़ौर करें तो पाएँगे कि यह सपना आज भी कायम है) मगर इसका बुनियादी हिस्सा अर्थात् यह कि इस सपने को जगाए जा चुके आम लोगों को ही सच बनाना है – मिट गया है। जैसाकि मैं पहले भी कह चुका हूँ, मेरी समझ से, आज़ादी के बाद हिंदुस्तान में जो एक सबसे नकारात्मक बात हुई है वह यह है कि लोगों को अपनी किस्मत खुद सँवारने के लिए प्रेरित करने का ख़्याल धीरे-धीरे मिटता गया है – इस हद तक कि जो लोग खुद को रैडिकल कहते हैं, क्रांतिकारी बताते हैं, वे भी आज आम लोगों के बीच जाकर उन्हें जगाने का काम नहीं करते। इसलिए सामाजिक इंसाफ़ के लिए चलने वाली पूरी लड़ाई जाति-प्रथा के ख़िलाफ़ एक जन-आंदोलन बनने की बजाय महज आरक्षणों के लिए चलने वाली जद्दोजहद बनकर रह गई है। इसी तरह, स्त्रियों की मुक्ति का पूरा सवाल खुद उनके बीच सामाजिक मुक्ति के लिए दहेज़-प्रथा के ख़िलाफ़, बहुओं को जलाने के ख़िलाफ़, पत्नियों को पीटने के ख़िलाफ़ चलने वाले जन-आंदोलन बनने की बजाय लगभग पूरे तौर पर प्रशासनिक तथा वैधानिक कार्रवाई का और राजनीतिक जोड़-तोड़ का विषय बन गया है। लेकिन वह सपना तो आज भी अपनी जगह कायम है, हालाँकि वह पहले से बहुत कमज़ोर हो गया है।

धर्म-निरपेक्ष समाज का सपना

आज़ादी की लड़ाई के दौर मे देखे गए सपने का एक बहुत अहम हिस्सा धर्म-निरपेक्षता था। यह बहुत महत्व की बात है कि 1880 वाले दशक से, जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई, राष्ट्रीय आंदोलन ने कभी कोई धार्मिक सवाल नहीं उठाया और न अंग्रेजों की इस बिना पर आलोचना की कि वे इसाई थे। राष्ट्रीय आंदोलन की ओर से कभी भी किसी ने यह नहीं कहा कि अंग्रेजी हुकूमत इसलिए खत्म हो जानी चाहिए कि हमारे हुक्मरान ईसाई हैं – हिन्दुस्तान में वह सिर्फ़ मुट्ठी-भर लोगों का मज़हब है। इसी तरह उपनिवेशवाद या अंग्रेज़ी हुकूमत की धर्म के आधार पर कोई आलोचना कभी नहीं की गई। धर्म को राजनीति से अलग रखने के विचार को बिलकुल शुरुआत से ही अपनाया गया। दादाभाई नौरोजी, फ़िरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले के समय से ही इस सपने को स्वीकार किया गया और अंत तक, यहाँ तक कि जब देश को बँटवारे का दर्द सहना पड़ा, तब भी उसका त्याग नहीं किया गया। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन ने कभी भी सांप्रदायिकता को स्वीकार नहीं किया और इसीलिए, हालाँकि देश विभाजित हो गया – जिसका कारण यह था कि हम सांप्रदायिकता को मिटा नहीं पाए और वह देश को बाँटने मे कामयाब हो गई– फिर भी हमने एक धर्म-निरपेक्ष समाज, एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना करने में और एक धर्म-निरपेक्ष संविधान अपनाने में सफलता प्राप्त की। धर्म-निरपेक्षता राष्ट्रीय आंदोलन का एक आधार-स्तंभ थी।

मैंने अक्सर इस बात पर ज़ोर दिया है कि गांधीजी ने धर्म-निरपेक्षता को पूरे तौर पर स्वीकार किया था। वे केवल इस अर्थ में धर्म-निरपेक्ष नहीं थे कि अलग-अलग धर्मों के बीच भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए, वे सिर्फ़ इस मायने में धर्म-निरपेक्ष नहीं थे कि सबको देश में रहने का समान अधिकार होना चाहिए, बल्कि वे इस अर्थ में भी धर्म-निरपेक्ष थे कि यह हक़ जितना

एक या दूसरे धर्म को माननेवालों को है उतना ही नास्तिकों को भी है। इससे भी ज़्यादा दिलचस्प बात यह है कि उन्होंने साफ-साफ कहा— हालाँकि यहाँ मैं उनकी ऐसी बातों का तफ़सील से ज़िक्र नहीं करने जा रहा हूँ कि धर्म को, जिससे उनका मतलब सभी इंसानों द्वारा पालन करने योग्य आचार-संहिता से, नैतिकता के उन नियमों से नहीं था जिनमें सभी धर्म, यहाँ तक कि नास्तिकों के विश्वास भी समाए हुए हैं, बल्कि पंथगत या संप्रदायबद्ध धर्म को हिंदुत्व, इस्लाम, ईसाइयत वगैरह के अर्थ में ज्ञात धर्म को व्यक्तिगत ही बनाए रखना चाहिए। किसी भी हालत में उसे सार्वजनिक जीवन और राजनीति में नहीं लाना चाहिए। उन्होंने यह बात एक-दो बार नहीं, बल्कि दसियों बार कही, अपने समाचार-पत्र **हरिजन** में और 1940 से लेकर अपनी मृत्यु तक प्रत्येक प्रार्थना सभा में लगभग हर रोज़ कही।

आज़ादी की लड़ाई का सपना धर्म-निरपेक्ष समाज की रचना करने का था। यह सपना इतना प्रबल था कि बँटवारे के काल में हुई भारी खूँरेज़ी के बावजूद, पाकिस्तान में सबकुछ गँवाकर साठ लाख शरणार्थियों के भारत आने के बावजूद इस देश में मचे खून-ख़राबे के बावजूद, 1946-47 में फ़िरकापरस्ती की भावनाओं में इज़ाफ़ा होने के बावजूद हमने हालिया सालों तक फ़िरकापरस्ती पर लगाम लगाए रखी और उसे न्यूनतम स्थिति पर पहुँचा दिया। फ़िरकापरस्त पार्टियों को मिलनेवाले वोटों का प्रतिशत हमेशा बहुत मामूली ही रहा। लेकिन जैसाकि मैंने कहा, कोई भी सपना, कोई भी विरासत हमेशा कायम नहीं रहती। इसलिए हमें फ़िरकापरस्ती से खतरा ज़रूर है, लेकिन हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में धर्म-निरपेक्षता और सांप्रदायिकता के बीच की लड़ाई में अहम फर्क यह कि फ़िरकापरस्ती के खिलाफ लड़ने के लिए आज़ादी की लड़ाई से प्राप्त सपने की विरासत सिर्फ़ हमारे पास है। कभी-कभी मैं अपने पाकिस्तानी दोस्तों से कहता हूँ कि आप हमसे ज़्यादा बहादुर हैं, क्योंकि

जब हम फ़िरकापरस्ती के ख़िलाफ़ लड़ते हैं तो हम गांधी या नेहरू की कही बातों को दलील के तौर पर पेश कर सकते हैं, लेकिन जब आप लोग उसके ख़िलाफ़ लड़ते हैं तो आपको दलील के तौर पर पेश की गई जिन्ना, लियाकत अली और ऐसी ही दूसरी शख़्सियतों की कही गई बातों से भी लड़ना पड़ता है। आपके पास आपको लड़ाई के हक़ में जिन्ना की सिर्फ़ एक तकरीर है, 13 अगस्त की तकरीर, लेकिन हम 1938 से लेकर 1947 तक गांधी और नेहरू द्वारा दी गई सैंकड़ों तकरीरों के हवाले दे सकते हैं।

स्वतंत्र विदेश नीति

मेरी राय में, स्वतंत्र विदेश नीति आरंभ से ही इस सपने का एक अहम हिस्सा रही है। इस नीति का मतलब यह था कि हिंदुस्तान की विदेश नीति ऐसी हो जो विशुद्ध हिन्दुस्तानी हो, जो शांति और अनाक्रमण की नीति हो और जो दूसरे औपनिवेशिक समाजों की आज़ादी की हिमायत करने वाली हो। इस पर तो मैं जाने कितनी देर तक बोल सकता हूँ। लेकिन अभी इतना ही कहूँगा कि इस नीति का दिलचस्प पहलू यह है कि 1870 वाले दशक से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन भारत से बाहर अंग्रज़ों की भारतीय सेना की हर आक्रामक कार्रवाई का विरोध करता रहा। मैं सिर्फ़ दो मिसालें दूँगा, जिनसे आपको भारी ताज्जुब होगा। जब बर्मा पर कब्ज़ा किया जा रहा था तो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने इसकी मुख़ालफ़त की। जब उसे जीत कर भारत का हिस्सा बना दिया गया तो कहा गया कि भारत का विस्तार किया जा रहा है, लेकिन भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने इसका विरोध करते हुए कहा कि बर्मा भारत का हिस्सा नहीं है, उसे भारत के साथ मत जोड़ो। 1922 में गांधीजी ने कहा कि बर्मा को आज़ाद कर देना चाहिए और 1937 में जब बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया तो इसके ख़िलाफ़ राष्ट्रवादी मंच से एक भी शब्द नहीं कहा गया। इसी तरह 1920 से 1930 वाले दशकों मे फ़ासीवाद–विरोधी

और उपनिवेशवाद–विरोधी विदेश नीति का अनुसरण किया गया। मेरा ख़्याल है इस मामले में जब यह कहा जाता है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की उपनिवेशवाद-विरोधी और फ़ासीवाद-विरोधी स्वतंत्र विदेश नीति का सेहरा सिर्फ़ जवाहरलाल नेहरू के सिर बँधता है तो इतिहास को एक हद तक ग़लत शक्ल में पेश किया जाता है। मैं समझता हूँ कि किसी भी अनुसंधान से यह पता चल जाएगा कि उपनिवेशवाद और फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ कुछ प्रस्तावों के मसौदे बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने तैयार किए थे। जिन प्रस्तावों का श्रेय नेहरू को दिया जाता है उनमें से कई के मसौदे गांधीजी ने तैयार किए थे। बल्कि 1938 में तो गांधीजी ने यहाँ तक कहा कि हालाँकि मैं सभी लड़ाइयों के ख़िलाफ़ हूँ फिर भी अगर मुझे किसी लड़ाई को वाजिब ठहराना पड़े तो मैं जर्मनी में हिटलर यहूदियों के साथ जो कुछ कर रहा है उसके लिए उसके ख़िलाफ़ की जाने वाली लड़ाई वाजिब ठहराऊँगा। इसलिए मैं मानता हूँ कि स्वतंत्र विदेश नीति इस सपने का बहुत अहम हिस्सा थी।

अनेकता के साथ-साथ एकीकृत राष्ट्र

और अंत में मैं मानता हूँ कि आज़ादी की लड़ाई का एक सपना मज़बूत और एकीकृत भारत का था। इस सपने में आरंभ से ही अनेकता को स्वीकार किया गया और स्थान दिया गया। तिलक, गांधी और सबसे बढ़कर जवाहरलाल नेहरू की कही जाने वाली ऐसी कितनी बातों के हवाले दिए जा सकते हैं जिनसे ज़ाहिर होता है कि इस अनेकता को कोई ऐसी बाधा नहीं माना जाता था जिसे मिटाना ज़रूरी हो, जैसाकि फ़िरकापरस्त लोग जिनका नारा एक राष्ट्र, एक संस्कृति का था, सोचते रहे हैं। एक राष्ट्र की रचना अवश्य करनी थी, लेकिन इसी अनेकता की बुनियाद पर। जैसाकि नेहरू ने बार-बार कहा, हमें इस अनेकता पर गर्व करना चाहिए। मुझे आज तक याद है कि बचपन में भी हम यह दलील दिया करते थे कि भारत एक महान देश है, क्योंकि यह इतना

विशाल और इतना विविधतापूर्ण है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन ने कभी भी अनेकता पर उँगली नहीं उठाई। यही कारण है कि भाषाई अनेकता को बिल्कुल शुरू से ही स्वीकार किया गया। यही बात भाषावर प्रांतों के बारे में भी थी। मक़सद यह था कि हर भाषा अपनी वाजिब जगह हासिल करे और प्रशासन, शिक्षा, संस्कृति, सबको लोगों की भाषा पर आधारित होना चाहिए। इस सदी के आरंभ से ही इस बात को स्वीकार किया गया। मिसाल के तौर पर यहाँ उड़िया एकीकरण आंदोलन को याद करना दिलचस्प रहेगा। यह आंदोलन काफी प्रबल था। उड़ीसा का एक हिस्सा आंध्र के साथ मिला दिया गया था, कुछ हिस्से मध्य भारत के साथ थे, कुछ बंगाल के साथ थे और बाद में जब बिहार प्रांत बना तो कुछ उसमें चले गए। बहुत से उड़िया बंगालियों को विदेशी और न जाने क्या-क्या मानते थे लेकिन जब उड़िया आंदोलन में यह एहसास जगा कि उड़िया अस्मिता, उड़िया पहचान भारतीय संस्कृत की अस्मिता से बिल्कुल संगत है और उसे उस भारतीय अस्मिता के अंतर्गत पूर्ण रूप से साकार किया जा सकता है तो उड़ीसा के एकीकरण का आंदोलन भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न अंग और उसका एक सबसे सशक्त अध्याय बन गया। गांधीजी की कही एक बात की जानकारी मिलने पर मैं बहुत ताज्जुब में पड़ गया और मुझे लगा कि वे तो वहीं बात कह रहे थे जो मैं और मेरे समकालीन लोग आज कहते हैं। मेरा मतलब उनके इस कथन से है कि हमारी अलग-अलग संस्कृतियाँ है और हमें स्वीकार करना चाहिए कि हमारी अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं, लेकिन हमें यह एहसास भी होना चाहिए कि हम सब उस विशाल धारा के हिस्से हैं जो भारतीय संस्कृति में ढल रही है और वह भारतीय संस्कृति तभी बन पाएगी जब विभिन्न संस्कृतियों को मान्य करेंगे। एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा, मैं गुजराती हूँ। इस तरह भारत के उत्तरोतर एक राष्ट्र बनते जाने की कल्पना का विकास हुआ। भारत एक निर्माणाधीन

राष्ट्र है, इस मुहावरे का इस्तेमाल सबसे पहले लोकमान्य तिलक ने किया था। अंग्रेज कहा करते थे कि भारत एक भौगोलिक इकाई का नाम है, वह राष्ट्र नहीं है। तिलक ने कभी भी यह दावा नहीं किया कि हम एक राष्ट्र हैं। उन्होंने कहा, यह सच है कि हम एक राष्ट्र नहीं हैं, लेकिन राष्ट्र बन रहे हैं। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के एक संस्थापक सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्मकथा लिखी तो उसका शीर्षक रखा **नेशन इन मेकिंग** अर्थात् 'निर्माणाधीन राष्ट्र'। इस प्रकार लोगों में यह चेतना आ गई थी कि भारत अपनी अनेकता के आधार पर एक राष्ट्र बनने के दौर में प्रवेश कर गया है। विविधताओं के पूर्ण पल्लवन की स्वीकृति के आधार पर भारत की जनता के एक जन समाज के रूप में, एक राष्ट्र के तौर पर संगठित होने की एक कल्पना आज़ादी की लड़ाई के दौर में देखे गए सपने का एक बहुत ही अहम हिस्सा थी।

1947 से हम आज़ादी की लड़ाई की विरासत के सहारे जीते रहे हैं। यह विरासत बहुत कीमती है, लेकिन कोई भी विरासत हमेशा कायम नहीं रह सकती। हमें उसकी हिफ़ाज़त करनी है, उसे मज़बूत बनाना है, उसे विकसित करना है, उसमें इज़ाफ़ा करना है। आज़ादी की लड़ाई को अर्पित यह हमारी सबसे अच्छी श्रद्धांजलि होगी।

यही आज़ादी की पचासवीं सालगिरह मनाने का सबसे अच्छा तरीका होगा।